वाक्यार्थ की शर्तें

स्पष्ट है कि किसी वाक्य के अर्थ को समझने के लिए कतिपय शर्तों का पालन अनिवार्य है। वाक्य के स्वरूप को निर्धारित करनेवाले उक्त आठ सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि वाक्य की शर्तों को दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है— वस्तुगत दृष्टि तथा आत्मगत दृष्टि। नैयायिक वस्तुगत दृष्टि को स्वीकारते हैं, जबकि वैयाकरणों ने आत्मगत दृष्टि को स्वीकारा है।

वस्तुगत दृष्टि के अनुसार किसी वाक्य का अर्थ उसके अवयव शब्दों के अर्थ पर निर्भर करता है। साथ ही, शब्दों का प्रयोग होने का समय, स्थान आदि भी वाक्यार्थ के लिए आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से नैयायिकों ने वाक्यार्थ की तीन शर्त्तों को स्वीकारा है— आकांक्षा, सन्निधि या आसत्ति तथा योग्यता। वैयाकरणों ने इन शर्त्तों को आत्मगत दृष्टि से स्वीकारते हुए इनमें एक शर्त्त और जोड़ दिया है। वह शर्त्त है— तात्पर्य। इस प्रकार कुल मिलाकर वाक्यार्थ की चार शर्त्तें हैं।

आकांक्षा—तर्कसंग्रह में कहा गया है कि वाक्य का अर्थ किसी एक शब्द के अर्थ से अभिहित नहीं होता है, वरन् उसके लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा होती है। वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त शब्द परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इसी अपेक्षा द्वारा वाक्य का अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस परस्पर अपेक्षा को आकांक्षा कहते हैं।[77] उदाहरण के लिए ''लाओ''। इस शब्द का अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है, जब इसके साथ 'गाय', 'पुस्तक' या 'घड़ा' आदि किसी अन्य शब्द को उच्चरित किया जाता है। यह उच्चरित शब्द आकांक्षित या अपेक्षित पद कहलाता है। उदयनाचार्य के अनुसार आकांक्षा एक ऐसा तत्त्व है जो श्रोता के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करता है। श्रोता किसी शब्द से जो अर्थ ग्रहण करता है और उस गृहीत अर्थ से अन्य अर्थ का जो आक्षेप होता है, उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है। इसी सम्बन्ध के कारण श्रोता के मन में अन्य पद के अर्थ की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इस अर्थ का पहले से अभाव रहता है। इस प्राग्भाव अर्थ की अपेक्षा ही आकांक्षा है।[78] इस प्रकार आकांक्षा में दो तथ्यों का होना अनिवार्य है— (क) किसी शब्द से बोधगम्य और उसके अपेक्षित अर्थों में अविनाभाव सम्बन्ध तथा (ख) इस सम्बन्ध से श्रोता के मन में उत्पन्न होनेवाली अपेक्षित अर्थ की जिज्ञासा का प्राग्भाव। वर्धमान उपाध्याय का मानना है कि प्रातिपदिक (संज्ञा) में संसर्ग ज्ञान का प्राग्भाव नहीं रहने से उसमें आकांक्षा नहीं पायी जाती है। वक्ता के विवक्षित अर्थ के सम्बन्ध की आपूर्त्ति ही आकांक्षा है। विवक्षित अर्थ का तात्पर्य उस अर्थ से है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, जिस पद के बिना कोई पद अपने अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, उसे ही आकांक्षा की संज्ञा दी जाती है। संज्ञा, विभक्ति, धातु, क्रिया, कारक आदि पद एक-दूसरे के बिना अपने अर्थ को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए इन्हें एक-दूसरे पर आश्रित होना पड़ता है। पदों का परस्पर आश्रित होना ही आकांक्षा है।[79] जगदीश तर्कालंकार की मान्यता है कि धातु, प्रातिपादिक तथा विभक्ति के बीच आनुपूर्वी धर्म आकांक्षा कहलाता है। जिस प्रकार के शब्दों में जैसे अर्थों के अन्वय-बोध के अनुकूल पारस्परिक आकांक्षा रहती है, उस अर्थ में उन्हीं शब्दों का समूह वाक्य के रूप में स्वीकृत होता है।[80] तात्पर्य है कि आकांक्षा पदों के पारस्परिक अर्थों का आपेक्षिक स्वरूप है जो वाक्य के अर्थ को अभिहित करती है।

नागेश भट्ट ने आकांक्षा को श्रोता के मन की जिज्ञासा कहा है। उनके शब्दों में, ''पदसमूह में से एक पद के अर्थ का ज्ञान होने पर उस अर्थ से अन्वित होने योग्य अर्थ

---

77. अन्नमभट्ट, तर्कसंग्रह,
78. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि (बोधिनी टीका), पृ॰ 122
79. वर्धमान उपाध्याय, न्यायकुसुमांजलिप्रकाश, पृ॰ 67.
80. जगदीश तर्कालंकार, शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ॰ 64.

की जिज्ञासा आकांक्षा है जो वस्तुतः ज्ञाता के मन में रहती है। श्रोता के मन की एक स्थिति यह है कि उसमें एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होनेवाले अन्य पद के अर्थ की जिज्ञासा रहती है। यह जिज्ञासा आकांक्षा है।''[81] यद्यपि नागेश ने आकांक्षा को ज्ञाता के मन की जिज्ञासा मानकर उसे आत्मगत स्वरूप प्रदान किया है, फिर भी उन्होंने इस जिज्ञासा का आधार एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होने लायक अन्य पदार्थ के ज्ञान का विषयभूत अर्थ को स्वीकारा है। तात्पर्य यह है कि नागेश के अनुसार आकांक्षा की वास्तविक सत्ता ज्ञाता के मन में रहती है और वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ में उसकी सत्ता आरोपित होती है।[82] किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में यह विचार संगत नहीं है।

उदयनाचार्य का मानना है कि यदि आकांक्षा को श्रोता (ज्ञाता) के मन की उपज मानी जाय, तो श्रोता के मन में शब्दों को सुनकर अनन्त जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो जायेंगी। उन सभी जिज्ञासाओं की पूर्त्ति किसी भी वाक्य से सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए ''यह कपड़ा है''— इसे सुनकर कपड़ा के रंग, गुण, द्रव्य आदि के सम्बन्ध में श्रोता के मन में अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु उन सभी जिज्ञासाओं को यह वाक्य शान्त नहीं कर पाता है। यदि नागेश की बात मान ली जाय, तो यह वाक्य वाक्य ही नहीं होगा। परन्तु हम जानते हैं कि यह वाक्य है, और निरर्थक भी नहीं है। अतएव आकांक्षा को आत्मगत नहीं मानकर वस्तुनिष्ठ ही मानना चाहिए। तभी तो, उदयन कहते हैं कि, ''आकांक्षा को श्रोतागत जिज्ञासा मानना उचित नहीं है।''[83]

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए वैयाकरणों ने कहा है कि श्रोता के मन में उत्पन्न सभी जिज्ञासाओं को सामान्य रूप से आकांक्षा नहीं कहा जाता है, वरन् एक विशेष अर्थ में उन जिज्ञासाओं को आकांक्षा कहा गया है। श्रोता के मन में गुण, क्रिया आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। परन्तु इनकी जिज्ञासा आकांक्षा न होकर किसी पद से सृजित विशिष्ट जिज्ञासा को आकांक्षा कहना चाहिए।

उदयन ने इस विचार की भी आलोचना की है। उनके अनुसार सृजित विशिष्ट जिज्ञासा को आकांक्षा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि गुण, क्रिया आदि पद का संसर्ग होता है पर उस संसर्ग के बोध से किसी विशिष्ट जिज्ञासा का बोध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक वाक्यों में पदों से बोधगम्य अर्थों के संसर्ग का ज्ञान पहले से कदापि नहीं रहता है। जैसे— ''प्रधानमंत्री आ रहे हैं, भीड़ हटायें।'' यह संयुक्त वाक्य है, जिसके दो अंश हैं— (i) प्रधानमंत्री आ रहे हैं। (ii) भीड़ हटायें। इन अंशों में यदि एक अंश को सुना जाता है और दूसरा अंश ठीक से नहीं सुनायी पड़ता है, तो इस वाक्य का अर्थ सही-सही नहीं जाना जा सकता है। वस्तुतः इन अंशों के अर्थों का कोई संसर्ग हो ही नहीं सकता। तीसरी बात यह है कि सभी वाक्य के अर्थों के लिए जिज्ञासा का होना आवश्यक नहीं है। अनेक ऐसे वाक्य होते हैं, जिनके अर्थबोध की जिज्ञासा श्रोता के मन में नहीं होती है। ''आजकल रेलगाड़ियाँ देरी से चल रही है''— इस वाक्य के अर्थ में श्रोता की जिज्ञासा नहीं हो सकती, क्योंकि यह प्रतिदिन की घटना है जिससे साधारणतः व्यक्ति उदासीन रहता है यदि

---

81. नागेश भट्ट, वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, पृ॰ 297
82. वही
83. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि, भाग 3, पृ॰ 454

उसे यात्रा नहीं करनी हो। स्पष्ट है कि आकांक्षा श्रोता के मन की जिज्ञासा मात्र नहीं है, बल्कि वह वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों की अपेक्षा मात्र है।[84]

इस प्रकार वैयाकरणों और नैयायिकों के बीच आकांक्षा के स्वरूप को लेकर मतभेद है। वैयाकरणों ने उसे वैयक्तिक (आत्मनिष्ठ) प्रत्यय मात्र माना है, जबकि नैयायिकों ने उसे वस्तुनिष्ठ सत्ता प्रदान किया है। आकांक्षा कोई अमूर्त्त प्रत्यय नहीं है, बल्कि वास्तविक सत्ता मात्र है। मेरी दृष्टि में, नैयायिकों का विचार अधिक संगत प्रतीत होता है। अर्थ शब्दों का ही होता है, मन में उत्पन्न जिज्ञासा का नहीं। जिज्ञासा सिर्फ अर्थ को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा देती है। यही कारण है कि उदयन ने आकांक्षा को साध्य कहा है, साधन नहीं।[85] वैशेषिक दर्शन में आकांक्षा को विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध कहा गया है, लेकिन उदयन की मान्यता है कि वाक्य में आकांक्षित पद विशेषण और विशेष्य नहीं होते हैं। वे स्वतंत्र रूप में अर्थवान हैं। लेकिन वाक्य के अर्थबोध के लिए वे परस्पर आश्रित है।

सन्निधि या आसत्ति—नैयायिकों के अनुसार केवल आकांक्षा ही वाक्यार्थ के लिए आवश्यक नहीं है। किसी वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति की एक अन्य शर्त्त सन्निधि भी है। सन्निधि का पर्याय आसत्ति है। सन्निधि या आसत्ति का तात्पर्य है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों या शब्दों का उच्चारण साथ-साथ हो। ऐसा नहीं हो कि ''लाओ'' शब्द का उच्चारण अभी किया और दो घंटे बाद ''गाय'' शब्द का उच्चारण किया गया। इससे वाक्य का निर्माण नहीं होता है, तो उसके अर्थ की बात करना ही व्यर्थ है। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त पदों का सहोच्चरित होना आवश्यक है। सहोच्चरित का तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों का उच्चारण बिना किसी व्यवधान (बाधा) के साथ-साथ होना चाहिए। इसलिए नैयायिकों का कहना है कि परस्पर सम्बद्ध पदों का अव्यवहित प्रयोग होने पर ही वे पद वाक्य रूप में घटित होते हैं। जैसे— ''मोहन रोटी खाता है।'' इस वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों का उच्चारण अव्यवहित (अबाधित) रूप में एक साथ होता है, इसलिए इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यदि ''मोहन रोटी'' कहने के बाद हम किसी अन्य व्यक्ति से कुछ और बात करने लगते हैं, तो यहाँ व्यवधान उत्पन्न होता है। बात समाप्त होने पर ''खाता है'' कहा जाता है, तो वाक्य के इस अंश को कहने में देर होती है। अतः दोनों अंशों में परस्पर सम्बन्ध नहीं बन पाता है। इसलिए इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

आसत्ति या सन्निधि का तात्पर्य मात्र सहोच्चरित और अव्यवहित नहीं है, बल्कि किसी शब्द का अर्थ वही होना चाहिए जो अर्थ वह प्रदान करता है। इसे विवक्षित अर्थ कहा गया है। यदि कोई 'घोड़ा' की ओर निर्देश करता है और कहता है कि ''गाय को बांधो'' तो यहाँ घोड़ा का विवक्षित अर्थ या निर्देशित अर्थ के अनुसार कथन नहीं है। अतएव इस वाक्य को अर्थवान नहीं माना जा सकता। इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार सन्निधि या आसत्ति में दो बातें निहित होती हैं— (i) विवक्षित अर्थ का शब्दतः कथन, तथा (ii) कथित शब्द या शब्दार्थों में अव्यवहित सम्बन्ध। अव्यवहित सम्बन्ध ही सहोच्चारण का बोध कराता है।

यद्यपि नैयायिकों ने आसत्ति को वाक्यार्थ की एक शर्त्त माना है, परन्तु कतिपय नैयायिकों ने इसे आवश्यक शर्त्त नहीं माना है। वात्स्यायन ने कहा है कि आसत्ति के अभाव में भी पदों के अर्थ आकांक्षा से परस्पर सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ के रूप में गृहीत होते हैं।[86]

84. वही, पृ॰ 458-61
85. वही, पृ॰ 423
86. वात्स्यायन, न्यायसूत्रभाष्य, 1.2.9

वात्स्यायन का विचार वैयाकरणों के समान है। नागेश भट्ट ने अपनी पुस्तक ''उद्योत टीका'' में लिखा है कि आसत्ति के बिना भी आकांक्षा के कारण व्युत्पत्ति के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों में अन्वय अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।कथित वाक्य में पदों के उच्चारण क्रम का अभाव रहने पर भी वे पद वाक्य में क्रमबद्ध होकर बोधगत होते हैं। राजपुरप्रवेश न्याय के अनुसार इसे समझा जा सकता है। राजभवन में प्रवेश करने के समय लोगों की क्रमहीन अव्यवस्थित भीड़ राज-दरवाजे के पास आते ही स्वयं एक कतार में व्यवस्थित होकर राजभवन में प्रवेश करती है, ठीक उसी तरह क्रमहीन पद भी आकांक्षा के अनुसार एक क्रम में घटित होकर ही वाक्य के रूप में बोधगत होते हैं।[87] इसलिए नागेश ने वाक्यार्थ बोध के लिए आसत्ति को आवश्यक शर्त्त नहीं माना है। मंजूषा में कहा गया है कि व्यवहित शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण-अग्रहण श्रोता की बुद्धि की तीक्ष्णता-मन्दता पर निर्भर करता है। तीक्ष्ण बुद्धिवाला शब्दों के अर्थ के अव्यवहित सम्बन्ध को ढूँढ निकालता है, भले ही शब्दों का सहोच्चारण नहीं हुआ हो। परन्तु मंद बुद्धिवाला ऐसी स्थिति में शब्दों के सम्बद्ध अर्थ को नहीं समझ पाते हैं। अब प्रश्न है कि वाक्यार्थ बोध में आसत्ति की भूमिका मंद बुद्धिवाले के अनुसार तय की जाय या तीक्ष्ण बुद्धि वाले के अनुसार। वस्तुतः मंद बुद्धिवाले के अनुसार आसत्ति की भूमिका निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि वे सहोच्चारित पदों के सम्बन्ध को समझने में भी असमर्थ हैं। तीक्ष्ण बुद्धिवालों के लिए आसत्ति की आवश्यकता ही नहीं है। वे तो आकांक्षा द्वारा वाक्यार्थ को जान लेते हैं। अतएव वाक्यार्थ के लिए सन्निधि या आसत्ति की आवश्यकता नहीं है।[88]

पतंजलि का भी मानना है कि वाक्यार्थ बोध में आसत्ति की कोई भूमिका नहीं है। कहा गया है कि यदि पदों में आकांक्षा हो, तो उनके विन्यास में पूर्वापर क्रम नहीं होने पर भी व्यवहित (असहोच्चरित या व्यवधानसहित) पदों का अन्वय आकांक्षा के आधार पर किया जाता है। अतएव आसत्ति को वाक्यार्थ की शर्त्त नहीं मानी जाती है। यह हो सकता है कि सन्निधि या आसत्ति के अभाव में केवल आकांक्षा द्वारा वाक्यार्थ के ग्रहण में देर हो सकती है।[89] देरी का तात्पर्य यह नहीं है कि आसत्ति आवश्यक है। मीमांसकों ने भी पतंजलि का समर्थन किया है। महाभाष्य की प्रदीप टीका में कहा गया है कि आसत्ति को वाक्यार्थ बोध का आवश्यक हेतु नहीं मानना चाहिए।[90] मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ के ग्रहण में परस्पर आकांक्षित पदों के अर्थों का महत्व है, आसत्ति का नहीं। अर्थों का आकांक्षाजन्य क्रम पदों में भी क्रम का निर्धारण कर देता है।

स्पष्ट है कि नैयायिकों ने आसत्ति या सन्निधि को वाक्यार्थ के लिए आवश्यक शर्त्त माना है। उन्होंने सहोच्चरित एवं अव्यवहित पदों के अर्थों के सम्बन्ध को आसत्ति कहा है। वैयाकरणों और मीमांसकों ने आसत्ति को वाक्यार्थ के लिंए आवश्यक नहीं माना है। वैयाकरणों ने आसत्ति को श्रोता के मन पर ही आश्रित मान लिया है। उनके अनुसार श्रोता की बुद्धि-क्षमता पर आसत्ति निर्भर है। इस प्रकार वैयाकरणों ने सन्निधि या आसत्ति को आत्मगत माना है, तो नैयायिकों ने वस्तुगत; क्योंकि शब्दों के अव्यवहित सहोच्चारण पर ही वाक्यार्थ बोध निर्भर है।

---

87. नागेश भट्ट, उद्योत टीका,
88. वही, वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, पृ॰ 522
89. पतंजलि, महाभाष्य, 1.1.58
90. कैयट, महाभाष्यप्रदीप टीका, पृ॰ 450

योग्यता—आकांक्षा और सन्निधि के रहने पर भी वाक्य का अर्थ नहीं जाना जा सकता है। जैसे— ''आग सींचती है।'' इस वाक्य में आकांक्षा और सन्निधि दोनों है। परन्तु वाक्य अर्थहीन है। आग में सींचने की क्षमता नहीं होती है, बल्कि जलाने की क्षमता है। जल में सींचने की क्षमता होती है। अतः यदि वाक्य होता— जल सींचता है, तो यह अर्थवान होता। किसी शब्द में अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती हैं। जल 'सींचना' अर्थ को प्रदान करता है, तो आग 'जलाना' अर्थ को। इसी क्षमता को 'योग्यता' कहते हैं। नैयायिकों का मानना है कि यदि पदसमूह से विवक्षित अर्थ में कुछ बाधक तत्त्व आ जाय, तो उस पदसमूह में योग्यता का अभाव होता है। अतः उस पदसमूह को वाक्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है। बाधक तत्त्व का निर्धारण दैनिक जीवन के अनुभव के आधार पर किया जाता है। आग का जलाना और जल का सींचना हमारे दैनिक अनुभव पर आधारित है। इसी तरह ''आग गर्म होती है'' और ''आग ठंढी होती है'' वाक्यों में पहला वाक्य हमारे अनुभव के अनुकूल है, तो दूसरा वाक्य हमारे अनुभव के प्रतिकूल है। अतः पहला वाक्य अनुभवसिद्ध होने से सार्थक है, तो दूसरा वाक्य अनुभवविरुद्ध होने से निरर्थक (अर्थहीन) है। इसी प्रकार ''आग सींचती है'' अनुभवविरुद्ध है, पर ''जल सींचता है'' अनुभवसिद्ध है। स्पष्ट है कि योग्यता का अर्थ अनुभवसिद्ध है, अनुभवविरुद्ध नहीं। वर्धमान उपाध्याय के शब्दों में, ''विशेष पदसमूह से विवक्षित अर्थ में सम्बन्ध के किसी बाधक तत्त्व का न होना योग्यता है।''[91] इस परिभाषा में कहा गया है कि पदसमूह से विवक्षित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार का बाधक तत्त्व अर्थात् अक्षम अर्थ का नहीं होना योग्यता है। अक्षम अर्थ को अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। जैसे— आग का सींचना अक्षम अर्थ है। इसे हम अनुभव से ही जानते हैं अर्थात् यह अनुभवविरुद्ध अर्थ है। दूसरे शब्दों में, वर्धमान ने भी स्वीकारा है कि पदसमूह के अर्थ में अनुभवसिद्ध सम्बन्ध का होना योग्यता है।

परन्तु वैयाकरणों ने नैयायिकों के इस विचार का समर्थन नहीं किया है। नागेश भट्ट के अनुसार किसी वाक्य में एक साथ प्रयुक्त होनेवाले पदों के अर्थ में सम्बन्ध की बाधा का ज्ञान होने पर भी अर्थबोध हो सकता है। अतएव उस वाक्य में योग्यता का भाव मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। जैसे— कमलनयन। कमल और नयन में अर्थभेद है। कमल एक फूल का नाम है, तो नयन आंख का पर्यायवाची पद है। फूल और आंख की बनावट और स्वभाव में अन्तर है। दोनों के अर्थसम्बन्ध में बाधा-बोध है। फिर भी 'कमलनयन' का अर्थ-बोध होता है। यह सार्थक पद है। अतः अनुभवविरुद्ध होते हुए भी 'कमलनयन' अर्थहीन नहीं है। इसमें योग्यता उपस्थित है।

वैयाकरणों का मानना है कि अनुभवविरुद्ध होना वाक्यार्थ के ग्रहण में बाधक होना है— यह सर्वव्यापी नियम नहीं है। अनुभव के विरुद्ध होने पर भी हम वाक्य के अर्थ को समझ लेते हैं। अर्थात् योग्यता का आधार अनुभवसिद्ध नहीं, अनुभवविरुद्ध भी हो सकता है। जैसे— चांदी को सीपी समझकर कहा जाता है कि, ''यह सीपी है।'' चांदी को चांदी समझने वाला व्यक्ति इस कथन को अनुभवविरुद्ध मानता है, परन्तु वह इस वाक्य के अर्थ को समझ लेता है। जो व्यक्ति भ्रम के कारण चांदी को सीपी मानता है, जब उसे अपने इस भ्रम का ज्ञान होता है तो वह चांदी को चांदी समझ लेता है। परन्तु तबतक वह इस अनुभवविरुद्ध वाक्य को सत्य मानकर इसके अर्थ को जान लेता है। इस प्रकार अनुभवविरुद्ध

91. वर्धमान उपाध्याय, न्यायकुसुमांजलिप्रकाश टीका, 3.

होने पर भी वाक्य में योग्यता पायी जाती है। दृष्टिदोष होने पर हम सही रंग की पहचान नहीं कर पाते हैं। पर यदि कोई कहता है कि ''यह नीला है'', तो वह इस वाक्य के अर्थ को समझ लेता है, जबकि उसे नीला रंग का अनुभव नहीं होता है। हम दैनिक जीवन में ऐसे पदों का प्रयोग करते हैं, जिनका न तो अनुभव होता है और जिन्हें न तो अनुभवसिद्ध या अनुभवविरुद्ध कहा जा सकता है। जैसे— सत्त्व गुण उजला है, रजोगुण लाल है, तमोगुण काला है। इत्यादि। ये वाक्य अनुभवसिद्ध नहीं है। फिर भी अर्थवान हैं। अतएव योग्यता का अर्थ केवल अनुभवसिद्ध होना नहीं है।

वैयाकरणों ने योग्यता को व्यापक अर्थ में लिया है। वस्तुतः योग्यता मनुष्य की बुद्धि का प्रत्यय मात्र है जो प्रचलन में दिखता है। नैयायिकों ने इसे शब्दों में निहित माना है। उनके अनुसार योग्यता शब्दनिष्ठ है। यहाँ भी नैयायिकों का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है, तो वैयाकरणों का आत्मनिष्ठ।

तात्पर्य—आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के होने पर भी वाक्य का अर्थ नहीं जाना जा सकता है, यदि वक्ता के अभिप्राय को न समझा जाय। वक्ता का अभिप्राय ही 'तात्पर्य' कहलाता है। प्राचीन नैयायिकों ने तात्पर्य को वाक्यार्थ की शर्त्त नहीं माना है, परन्तु नव्य नैयायिकों ने तात्पर्य को वाक्यार्थ की एक शर्त्त स्वीकार किया है। नव्य नैयायिकों के अतिरिक्त वैयाकरणों और वेदान्तियों ने भी वाक्यार्थ की शर्त्त के रूप में तात्पर्य को मान्यता दी है। विश्वनाथ पंचानन के अनुसार वाक्य का अर्थ वक्ता के तात्पर्य को समझने के बाद ही जाना जा सकता है। यदि तोता कहता है कि ''गाय लाओ'', तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं है। तोता रटंत वाक्य कहता है। इसलिए उसमें तात्पर्य का अभाव है। अतः यह वाक्य निरर्थक है। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस वाक्य का उच्चारण करता है, तो उसके इस कथन में तात्पर्य निहित है। इसलिए कहा गया है कि ''वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्'' अर्थात् वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है। सिद्धान्त मुक्तावली में कहा गया है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण वक्ता की इच्छानुकूल होना चाहिए, तभी वाक्यार्थ हो पाता है।

परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार मौनी व्यक्ति शब्दोच्चारण नहीं कर पाता है, फिर भी संकेत से वह अपने अभिप्राय को समझा देता है। यदि शब्दोच्चारण द्वारा ही वक्ता की इच्छा मानी जाय, तो संकेतार्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं समझा जा सकता है। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों ने न्याय दर्शन के इस विचार में **अव्याप्ति दोष** माना है। जब कोई बालक मंत्रोच्चारण करता है, तो उसमें उस बालक की इच्छा निहित नहीं रहती है। फिर भी शाब्दबोध होता है, अर्थात् वाक्यार्थ जाना जाता है। चूँकि मंत्रोच्चारण बालक की इच्छा से नहीं होता है, इसलिएं यहाँ भी **अव्याप्ति दोष** है।

नैयायिकों का उत्तर है कि भले ही बालक मंत्रोच्चारण अपनी इच्छा से नहीं करता हो और वह मंत्र का अर्थ भी नहीं जानता हो, फिर भी श्रोता को ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रोच्चारण करनेवाला बालक मंत्रार्थ को जानता है। इसलिए वह स्वेच्छा से मंत्र का उच्चारण करता है। अतः श्रोता बालक द्वारा उच्चरित मंत्र के तात्पर्य को समझ लेता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त नैयायिकों के इस तर्क में भी दोष निकालता है। जब बालक मंत्रोच्चारण करता है, तो श्रोता भी उस मंत्र के अर्थ को समझता है। उसे यह प्रतीति नहीं होती है कि बालक मंत्र के अर्थ को नहीं जानता है। वस्तुतः श्रोता मान लेता है कि बालक मंत्रार्थ का ज्ञाता है। लेकिन यह मान्यता वाक्य (मंत्र) के अर्थ को अभिहित नहीं कर पाता है, अर्थात्

शाब्दबोध का अभाव पाया जाता है। अतः नैयायिकों के इस विचार में भी अव्याप्ति दोष है।

पुनः नैयायिकों ने उत्तर दिया है कि भले ही वक्ता और श्रोता वाक्य के तात्पर्य को नहीं समझ पाता हो, पर ईश्वर उस तात्पर्य को अवश्य समझता है। अतः वक्ता और श्रोता दोनों ही ईश्वरीय तात्पर्य से वाक्य के अर्थ को जान लेते हैं। किन्तु यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि अनीश्वरवादी विचारकों की दृष्टि में ईश्वरीय तात्पर्य के बिना भी वैदिक और लौकिक वाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्तियों ने नैयायिकों के तात्पर्य विचार को असंगत माना है, और उन्होंने तात्पर्य को ''तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्''[92] कहा है। तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् का अर्थ है कि पदार्थों (शब्दों के अर्थों) के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता। इसी योग्यता को तात्पर्य कहा जाता है। जैसे— ''घर में घड़ा है।'' इस वाक्य में घर आधार है और घड़ा आधेय है। यह वाक्य आधार-आधेय सम्बन्ध को बतलाता है। घर और घड़ा के बीच इस सम्बन्ध की उत्पत्ति होते ही इस वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है, क्योंकि इस सम्बन्ध को बतलाने की योग्यता इस वाक्य में है। अतएव वाक्य के तात्पर्य को श्रोता समझ लेता है।

स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त नैयायिकों की तरह वक्ता की इच्छा को तात्पर्य नहीं कहता है, बल्कि वाक्य में निहित योग्यता को तात्पर्य कहा है। इसका अर्थ है कि अद्वैत वेदान्त योग्यता और तात्पर्य दोनों को अभिन्न मानता है। परन्तु वाक्य की ये दोनों शर्तें अलग-अलग हैं। दूसरी बात यह है कि यदि तात्पर्य की अद्वैत परिभाषा को मान ली जाय, तो अतिव्याप्ति का दोष आ जाता है। उदाहरण के लिए ''सैंधव लाओ'' वाक्य में सैंधव और लाओ दोनों पदों के अर्थ में संगति है। इसलिए इसमें अर्थ देने की योग्यता है। परन्तु 'सैंधव' पद के दो अर्थ हैं— घोड़ा और नमक। ऐसी स्थिति में यह वाक्य श्रोता को घोड़ा या नमक का अर्थ प्रदान करेगा या दोनों— स्पष्ट नहीं है। यदि दोनों अर्थ प्रदान करता है, तो यह अर्थहीन है। अतः अद्वैत वेदान्त जिसे तात्पर्य समझता है, वह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है। इसी प्रकार ''श्वेतो धावति'' कहा जाय, तो इसका अर्थ है कि सफेद दौड़ता है। इस वाक्य का तात्पर्य है कि सफेद रंगवाला घोड़ा दौड़ता है। परन्तु यदि 'श्वेतो' पद का विच्छेद किया जाय, तो ''श्वा इतः धावति'' वाक्य बनेगा, जिसका अर्थ है कि कुत्ता इधर से दौड़ता है। ऐसी स्थिति में 'श्वेतो' पद का तात्पर्य अतिव्याप्त हो जाता है।

अतएव तात्पर्य के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का विचार भी संगत नहीं है। परन्तु अद्वैत वेदान्तियों ने उक्त आरोपों का उत्तर देते हुए कहा है कि ''सैंधव लाओ'' वाक्य के तात्पर्य में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। वस्तुतः तात्पर्य का अर्थ शब्दों के अर्थों के संसर्ग की प्रतीति नहीं है, वरन् इस प्रतीति की योग्यता उत्पन्न करने के साथ-साथ उससे भिन्न अर्थ के बोध की इच्छा से वह उच्चरित न हो। दूसरे शब्दों में वक्ता द्वारा उच्चरित पदों का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा और वाक्य की योग्यता पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर करता है। यदि भोजन के समय 'सैंधव' पद का उच्चारण किया जाय, तो उसका अर्थ 'नमक' ही होगा, घोड़ा नहीं। इसी प्रकार 'श्वेतों' पद का अर्थ भी प्रसंगानुसार ही होता है। अतः किसी वाक्य के अर्थ को जानने के लिए वक्ता के तात्पर्य को देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल समझना अनिवार्य है। इसलिए कहा गया है—

---

92. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, आगम परिच्छेद

तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यमात्र
प्रतीतीच्छया अनुच्चरितत्वं तात्पर्यस्य लक्षणम्।[93]

अर्थात् पदों में पदार्थसंसर्गबोध (शब्दों के अर्थों के संसर्ग का ज्ञान) उत्पन्न करने की योग्यता हो और जिस अर्थ का बोधन करना (जानना) अभीष्ट हो, उससे भिन्न अर्थ मात्र की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया हो, तो उसे ही "तात्पर्य" कहते हैं।

स्पष्ट है कि तात्पर्य के दो लक्षण होते हैं— (क) शब्दों के अर्थों के संसर्ग-ज्ञान की उत्पत्ति तथा (ख) वक्ता की इच्छा उस संसर्ग से उत्पन्न अन्य अर्थ का उच्चारण नहीं करना। यद्यपि यह परिभाषा अद्वैत वेदान्त की है, फिर भी इसमें नैयायिकों का विचार "वक्ता की इच्छा" सम्मिलित है। अतएव भारतीय भाषाविश्लेषण के अन्तर्गत तात्पर्य केवल आत्मगत नहीं, वरन् वस्तुगत भी है।

शाब्दबोध

शाब्दबोध का अर्थ है शब्द से उत्पन्न ज्ञान। सिद्धान्त मुक्तावली में विश्वनाथ ने कहा कि जो ज्ञान शब्द द्वारा उत्पन्न होता है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। आप्त पुरुष के कथन को शब्द कहा जाता है। कथन वाक्य का पर्याय है। अतः शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्यार्थ बोध से है। तर्ककौमुदी में लौगाक्षि भास्कर ने कहा है कि किसी वाक्य के अर्थ का ज्ञान उसमें प्रयुक्त पदों के अर्थों के परस्पर संसर्ग से होता है। स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ स्वतः अभिव्यक्त नहीं होता है, बल्कि वाक्य में प्रयुक्त पदों या शब्दों के अर्थ पर आधारित होता है। पदों या शब्दों के अर्थ परस्पर सम्बन्धित होते हैं। यह सम्बन्ध कई बातों पर निर्भर करता है। विश्वनाथ के अनुसार "शब्दों का ज्ञान शाब्द बोध का करण (साधन) होता है। शब्दों का अर्थ शाब्दबोध का व्यापार है, शाब्दबोध उस व्यापार का फल है और वाक्यार्थ का ज्ञान आकांक्षा आदि से युक्त होने पर होता है। आकांक्षादि सहकारी या सहायक की भूमिका निभाते हैं।" विश्वनाथ के इन कथनों में वाक्यार्थ के पूर्व की अवस्था को शाब्दबोध कहा गया है और उसके तत्त्व करण (शब्द), व्यापार (शब्दार्थ), फल (शाब्दबोध) तथा सहकारी (आकांक्षादि) हैं। वैयाकरणों के अनुसार शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्य में प्रयुक्त पदों के बीच उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए "गाय लाओ" वाक्य में दो पदों का प्रयोग है। 'गाय' उद्देश्य पद है, 'लाओ' विधेय पद है। इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करता है। यही कारण है कि श्रीकंठ दीक्षित ने 'उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध रूप' को वाक्यार्थ की संज्ञा दी है।[94]

वस्तुतः वाक्यार्थ बोध या शाब्दबोध शब्दों के अर्थों द्वारा निर्देशित दो या अधिक वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान है। इस ज्ञान की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप में होती है—

(क) "गाय लाओ" वाक्य में पहले 'गाय' शब्द का सम्बन्ध उस वस्तु से होता है, जिसे यह शब्द निर्देशित करता है। अर्थात् 'गाय' शब्द से 'गाय' नामधारी पशु का बोध होता है। यह बोध **करण** है।

(ख) 'गाय लाओ' कहने से 'गाय' नामधारी पशु का स्मरण होता है। यह **व्यापार** है।

93. वही

94. श्रीकंठ दीक्षित, तर्कप्रकाश

(ग) 'लाओ' शब्द से उस क्रिया का बोध होता है जिसके द्वारा गाय लायी जाती है। यह भी **व्यापार** है।

(घ) 'गाय' शब्द से उत्पन्न स्मरण गाय का अर्थ बतलाता है, अर्थात् गाय और उसके अर्थ में सम्बन्ध का स्मरण होता है। यह **शाब्दबोध** है।

(ङ) 'लाओ' शब्द से भी 'लाओ' और उसके अर्थ के सम्बन्ध का स्मरण होता है। अतः यह भी **शाब्दबोध** है।

(च) अब आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता और तात्पर्य द्वारा वाक्य "गाय लाओ" का अर्थ जान लिया जाता है। यह **वाक्यार्थ** है।

इस प्रकार किसी वाक्य के अर्थ को जाना जाता है। वाक्य का अर्थ जानना ही वाक्यार्थ है। नैयायिकों के अनुसार वाक्यार्थ में प्रमुख पद कर्त्ता कारक होता है। उस पर ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ निर्भर करता है। "गाय लाओ" में गाय की प्रधानता है, क्योंकि लाने की क्रिया का सम्बन्ध 'गाय' नामक पशु से है। किन्तु मीमांसकों के लिए वाक्यार्थ बोध सकर्मक क्रिया द्वारा होता है, जबकि वैयाकरणों ने क्रिया मात्रा (चाहे सकर्मक हो या अकर्मक) को वाक्यार्थ बोध का उत्तरदायी माना है। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। "राम घट लाता है।" इस वाक्य की व्याख्या नैयायिक, मीमांसक और [illegible] अपने अपने ढंग से करते हैं।